विदापत नाच

-डॉ. अरविन्द कुमार मिश्र

लोक जीवन और संस्कृति के प्रति फणीश्वरनाथ रेणु का गहरा सरोकार रहा है। उनकी रचनाएँ इस बात की गवाही देती दिखाई पड़ती हैं। कहानी हो या उपन्यास, रिपोर्ताज हो अथवा संस्मरण उनकी सभी रचनाएँ लोक जीवन के अनुभवों से अनुप्राणित सामाजिक जीवन के भिन्न और विशिष्ट रूप को लेकर पाठकों के सामने उपस्थित होती हैं। इस मायने में रेणु अपने समय के कुछ दुस्साहसी रचनाकारों में से एक हैं, जो प्रचलित और लोकप्रिय कथाभूमि का त्याग कर, जीवन और साहित्य के बीच एक अनावृत संबंध स्थापित करने का प्रयास करते हैं। यह जानते हुए भी कि हिंदी की प्रचलित आलोचना दृष्टि और स्थापित पाठकीय अभिरुचि आंचलिक जीवन के संस्कारों, कथा- घटनाओं, अनुभवों और विचारों को उनके खुरदरे रूप में स्वीकार करने का आदी नहीं है, रेणु ने ग्रामीण जीवन के विशाल परिदृश्य को संपूर्ण आंचलिकता के साथ कलात्मक अभिव्यक्ति दी, लेकिन कलात्मकता के नाम पर उस जीवन भूमि की सच्चाइयों की न उपेक्षा की न उसे तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया। उनकी यही कलात्मक दृष्टि उन्हें प्रेमचंद की कथा परंपरा में रखते हुए भी उनसे भिन्न और विशिष्ट बना देती है।

प्रेमचंद पाठकीय अभिरुचि के प्रति बहुत ज्यादा सजग हैं। जैसा कि हम जानते हैं उनका कथा संसार ग्रामीण जीवन केन्द्रित है, लेकिन उनकी कथा भाषा शहरी पाठकों की परिष्कृत अभिरुचि की ओर उन्मुख है। शायद यही कारण है कि वे ग्रामीण किसान जीवन का महाकाव्यात्मक उपन्यास लिखते हुए भी (या उत्कृष्ट कहानियां लिखते हुए भी) उस जीवन और समाज की भाषा और उसके सांस्कृतिक अंतर्ध्वनियों को अभिव्यक्त नहीं कर पाते। उनकी रचना वर्गीय दृष्टि से उस जीवन का जितना यथार्थ रूप उद्घाटित कर पाती है, ठीक उसी अनुपात में उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और विविधतापूर्ण भाषाई भू-दृश्य को उसके यथार्थ रूप में उद्घाटित नहीं कर पाती। रेणु इस दृष्टि से न सिर्फ प्रेमचंद की कथा परंपरा का पुनः आविष्कार करते हैं, बल्कि समग्र कलात्मक दृष्टि का परिचय भी देते हैं। वे न सिर्फ उपलब्ध कला विधा का सार्थक और समग्र प्रयोग करते हैं, बल्कि लुप्त हो रही कला विधाओं को व्यावहारिक रूप में पुनर्जीवित करने का प्रयास भी करते हैं साथ ही अपनी रचना के माध्यम से उसे संरक्षण देने का प्रयास करते हैं। उनके 'विदापत नाच' को लुप्त होती कलाओं के संरक्षण और दस्तावेजीकरण के एक प्रयास के रूप में देखा जाना चाहिए।

दरअसल रेणु एक ऐसे रचनाकार के रूप में सामने आते हैं जो साहित्य, कला और संस्कृति के तथाकथित राष्ट्रीय अथवा मुख्य धारा के आख्यान के अधूरेपन की ओर अलग से संकेत किये बिना उसे उसकी वास्तविक जमीन की तरफ ले जाते हैं। इस रूप में उनकी रचना में व्यक्त ग्रामीण जीवन का आंचलिक बोध न सिर्फ लोकजीवन और संस्कृति के वर्णन का माध्यम है, बल्कि वह एक ऐसे सांस्कृतिक राष्ट्रबोध की प्रस्तावना भी करता है, जो भारतीय समाज को उसके मूल से विच्छिन्न किये बिना आंतरिक तौर पर,

उसे परिवर्तनशील और समसामयिक बनने की प्रेरणा देता है। वह एक ऐसा वातावरण प्रदान करता है जिसके अंतर्गत जन सामान्य अपने पर्यावरण और जीवन के निरंतर क्षेत्रों और उससे प्राप्त होने वाले अनुभव से निजी कला और सांस्कृतिक बोध के साथ उसके जीवंत उपक्रमों की रचना कर सके। ऐसा न हो कि बाहर से आयातित सांस्कृतिक बोध और जीवन दृष्टि के अनुकरण में यथार्थ जीवन के वृहत्तर आयामों, व्यापक और वास्तविक परिवेश की उपेक्षा को ही आधुनिक और समसामयिक होना माना जाए। (जैसा कि तथाकथित आधुनिकतावादी उसे हीन सांस्कृतिक उपक्षेत्र के घेरे में कैद कर कुंठित करने का प्रयास करते रहे हैं) यह न सिर्फ एक कलाकार व्यक्ति के रूप में रेणु की विशेषता है, बल्कि वह उस संपूर्ण मिथिलांचल क्षेत्र का (जिसका फणीश्वरनाथ रेणु प्रतिनिधित्व करते हैं) जीवन बोध है जिसमें अपने परिवेश और पर्यावरण के प्रति गहरा लगाव रखते हुए जीवन को दैनिक सांस्कृतिक उपक्रमों के बीच देखा और जिया जाता है। वहाँ जन्म-मरण, सुख-दुःख, भय और विस्मय से जुड़े सारे मानवीय अनुभव चित्र (मिथिला पेंटिंग), गीत (समदाउन, सोहर, सामा चकेवा, बटगवनी, नचारी आदि) और नृत्य (विदापत नाच, कीर्तनिया नाच, कुंजवासी नाच और नारदी नाच, भगत नाच और पूजा आरती नाच) जैसे कला रूपों में अभिव्यक्ति पाते हैं। जीवन के तमाम उतार-चढ़ावों के बीच वे जीवन जीने के आधार बनते हैं। यह कला और सामाजिक जीवन की एकता का भाव और विचार भी है जिसे रेणु अपनी रचनाओं के माध्यम से साक्षात् करने का प्रयास करते हैं। मुश्किल है कि ऐसे रचनाकार और उनकी रचनाएँ विचारधाराओं की स्थिर सरणियों के माध्यम से ठीक-ठीक समझ में आ जाएँ।

इस संदर्भ में 'विदापत नाच' में रेणु का लिखा यह वक्तव्य उल्लेखनीय है "दुखी-दीन, अभावग्रस्तों ने घड़ी-भर हँस-गाकर जी बहला लिया, अपनी जिंदगी पर भी दो-चार व्यंग्य-बाण चला दिए, जी हल्का हो गया। अर्धमृत वासनाएं थोड़ी देर के लिए जगीं, अतृप्त जिंदगी के कुछ क्षण सुख से बीते। मेहनत की कमाई मुट्ठी-भर अन्न के साथ-साथ आज इन्हें थोड़ा-सा 'मोहक प्यार' भी मिलेगा, इसमें संदेह नहीं।... आप खोज रहे हैं- आर्ट, टेकनिक और न जाने क्या क्या, और मैं आपसे चलते-चलाते फिर भी अर्ज करता हूँ कि यह बिदापत नाच था।"[1] यहाँ स्पष्ट है कि रेणु यह कहना चाहते हैं कि सामान्य जन-जीवन में बिदापत नाच जैसी कलाएँ एक ऐसे उत्सव के रूप में हैं जिसके माध्यम से वे जीवन की वंचनाओं, तमाम तरह के दुखों और अभावों को व्यक्त करते हुए उसी में एक अव्यक्त सुख की तलाश भी कर लेते हैं। कोई बाहरी व्यक्ति उसमें कलात्मक विन्यास की तलाश करता हुआ उसके गुण और दोष पर विचार कर सकता है, लेकिन जो समाज उसका मंचन कर रहा है उसके लिए वह उसका जीवन है। ठीक इसी भूमि पर कबीर के इस दोहे को भी याद किया जा सकता है जब वे कहते हैं "तुम जिनि जानो गीत है, यहु निज ब्रम्ह विचार। केवल कहि समुझाईया, आतम साधन रे।"[2] यानि सामान्य जन और उसके भीतर से उद्भूत हुई कलाएँ इसी स्तर पर काम करती हैं। उनका जीवन ही उन्हें कलाकार बनाता है। इसके लिए उन्हें अलग से कलात्मक शिक्षा लेने की जरूरत नहीं पड़ती। बिदापत नाच के कलाकार चेथरू गोसाईं के बारे में रेणु लिखते हैं। "गुसाईं जी कबीर के भक्त हैं। इसी गाँव के रहने वाले हैं। दस-पंद्रह वर्ष पहले की बात है- जमींदार साहब ने एक झूठी गबाही देने के लिए कहा, इन्होंने अस्वीकार कर दिया और जमींदार साहब ने क्रोधित होकर इनको 'गृहहीन' कर दिया। तभी से आप स-स्त्रीक बैरागी हो गए हैं।"[3] और बिदापत नाच में खंजरी बजा-

बजा कर नाच करते हैं और निर्गुण गाते हैं। इसी तरह एक अन्य कलाकार टहलू पासवान हैं उनके बारे में रेणु लिखते हैं- "आपको कितना समझाऊँ कि यह बिदापत नाच है और वह नर्तक है टहलू पासवान, उसका बाप पक्का डकैत था। बाप को काले पानी की सजा हो गई, माँ किसी और के साथ चली गई और यह बचपन से ही नाचने लगा। अपने जबानी के दिनों में इसने धूम मचा दी थी-धूम। हाव-भाव बतालाने में तो अभी भी वह अपना सानी नहीं रखता।"[4] इसीलिए रेणु के भीतर लोकजीवन की कलाओं को लेकर इतनी गहरी चिंता दिखाई देती है।

यहाँ एक बात और स्पष्ट होती है। ऐसा माना जाता है कि कवि कलाकारों के भीतर परकाया प्रवेश की विशिष्ट क्षमता होती है। यह क्षमता जिस कलाकार में जितनी ज्यादा होगी उसकी कलात्मकता उतनी ज्यादा निखर कर सामने आएगी। रेणु यह दिखाते हैं कि लोकजीवन और कलाएँ कला के इस आभिजात चिंतन को भी निरस्त कर देता है। यहाँ हरेक कलाकार जिस कलात्मक भूमिका का निर्वाह करता है वह किसी 'परकाया प्रवेश' शिक्षण अथवा प्रशिक्षण से सीख कर नहीं निभाता। वह उसकी जिंदगी से उपजी हुई वास्तविक अनुभूति है जो मंच के माध्यम से एक कलात्मक अनुभूति का रूप ग्रहण कर लेती है। चेथरू गोसाईं दर्द भरे जिन गीतों को गाता है और उसे नृत्य के माध्यम से अभिनय करके दिखाता है वह वास्तविक जीवन और परिस्थितियों की मार से पैदा हुई है। वह कला मात्र नहीं, बल्कि उसके जीवन की वास्तविकता है। इसी तरह टहलू पासवान के लिए नृत्य कोई विकल्प नहीं वह उसका जीवन है जिसका अभिनय कर वह न सिर्फ दूसरों को आनंद प्रदान करता है बल्कि वह उसके लिए जीवन जीने का साधन भी बन जाता है। वह सुनने-देखने वालों के लिए कला बन जाता है। समकलीन कवि रघुवीर सहाय ने भी अपनी एक कविता 'नेता क्षमा करें' में लिखा है-

"यानी कि आप ही देखें कि जो कवि नहीं है

अपनी एक मूर्ति बनाता हूं और ढहाता हूं

और आप कहते हैं कि कविता की है

क्या मुझे दूसरों को तोड़ने की फुर्सत है? "[5]

दरअसल यह कला की उस धारणा का भी निषेध है जिसमें कला और जीवन को अनुकृति की तरह देखा जाता है। यह माना जाता है कि कलाएँ सीख कर अर्जित की जाती हैं। इसके समानांतर विदापत नाच कला की वह लोकवादी धारणा है जो यह मानकर चलती है कि कलाएँ जीवन से स्वतः उद्भूत होती हैं इसलिए कलाएँ सहजात होती हैं। कलाओं से उतना ही प्रेम किया जा सकता है जितना जीवन से। अभिजात्य समाज की तरह इस धारणा में कला के प्रति किसी हीन दृष्टि के लिए कोई जगह नहीं है, जैसा आमतौर पर आभिजात्य समाज के भीतर देखने को मिलता हैं। रेणु बिदापत नाच को जिस तरह से प्रस्तुत करते हैं वह कला की इसी लोकदृष्टि की स्थापना का प्रयास दिखाई देता है। शायद यही कारण है कि रेणु बिदापत नाच के आरंभ में ही लिख देते हैं कि "नृत्य-कला के आचार्य उदयशंकरजी से प्रार्थना करूँगा कि इसे मेरी अनाधिकार चेष्टा कदापि नहीं समझें। मेरा तो अनुमान है कि उन्होंने इस नाच का नाम भी नहीं सुना

होगा। ओरियंटल और क्लासिक नृत्य से दिलचस्पी रखने वाले पाठक-पाठिकों का समय व्यर्थ ही बर्बाद न हो, इसलिए मैं पहले ही अर्ज कर देता हूँ- यह महज 'बिदापत नाच' है।"[6] बिदापत नाच की यह उदघोषणा दर्शक और पाठक को सिर्फ आकर्षित करने का बहाना नहीं है, बल्कि लोककला को अभिजात चश्मे से न देखने की अपील भी है साथ ही कला में तकनीक और रूप को ही सब कुछ मानने वालों पर एक तीखा व्यंग्य भी है। इसी व्यंग्यात्मक लहजे में वे पाठकों और दर्शकों को बिदापत नाच देखने और पढ़ने के लिए आमंत्रित करते हुए लिखते हैं- "आइए, आज आप भी मेरे साथ थोड़ी देर के लिए भद्रता का चोगा उतार फेंकिए। वहाँ मुसहर टोली में जो भीड़ जमा है, वहीं आज बिदापत नाच होने जा रहा है। कोल, मुसहर, धाँगड़ की सारी भीड़ उमर आई है। युवक-युवतियां, बूढ़े बच्चे सभी नाच शुरू होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"[7]

इसमें जहाँ एक तरफ सुखात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं-

"सखि हे...

सखि हे, कि पुछसि अनुभव मोहे...

' जनम अवधि हम रूप निहारलौं,

तबहुं न तिरपित भेलौं।"[8]

वहीं सामान्य जीवन का कभी न ख़त्म होने वाला वह दुःख, दर्द और पीड़ा भी है जिससे मुक्ति की कामना लिए ही जीवन का अंत हो जाता है। नाच में बिकटा (एक पात्र) कहता है-

"बाप रे !...

बाप रे कोन दुर्गति नहिं भेल।

सात साल हम सूद चुका ओल,

तबहूँ उरिन नहिं भेलौं।

कोल्हुक बरद सन खटलौं रात-दिन

करज बाढ़त ही गेल।

थारी बेच पटवारी के देलियेंह,

फटक नाथ गिरधारी।"[9]

हँसते-हँसते लोट-पोट होते हुए दर्शक के कानों में अचानक प्रिया विरहित एक स्त्री की पीड़ा प्रवेश करती है-

"सखि हे !

इ माह भादर, भरल बादर।

शून्य मंदिर मोर।..!"[10]

रेणु 'बिदापत नाच' को एक ऐसी कला विधा के रूप में प्रस्तुत करते हैं जिसमें दर्शक, अभिनेता, संगीतकार, गीतकार सबके सब एक साथ दर्शक और कलाकार दोनों भूमिका में मौजूद रहते हैं। दर्शक कब अभिनेता में बदल जाता है उसे पता भी नहीं चलता।

मिथिलांचल एक उत्सवों का अंचल है। वहाँ का हर एक उत्सव चित्रकला, गीत, संगीत और नृत्य से जुड़ा हुआ है। अपने वास्तविक जीवन के अनुभवों से रचा 'बिदापत नाच' में विद्यापति के पदों की तर्ज पर नये पद रचे जाते हैं जिसमें मंचित समय और समाज के सुख-दुखात्मक अनुभव अनेक रंग और रूपों में निखर कर सामने आते हैं। इसके साथ ही रेणु ने इसमें भद्र और सामान्य के बीच की कला के भेद को भी रेखांकित किया है "कि तथाकथित भद्र समाज के लोग इस नाच को देखने में अपनी हेठी समझते हैं लेकिन मुसहर, धांगड़, दुसाध के यहां विवाह मुंडन तथा अन्य अवसरों पर इसके धूम मची रहती है।"[11] 'बिदापत नाच' जैसी लोककला के प्रति रेणु के इस लगाव को तब और समझा जा सकता है जब हमें यह पता चलता है कि इसे बचाने और सुरक्षित रखने के उद्देश्य से 1960 में रेणु ने विदापत नाच मंडली का गठन अपने पैतृक गांव अररिया जिले के औराही हिंगना में किया था, जो आस-पास के इलाकों में 'बिदापत नाच' का प्रदर्शन किया करती थी। हालांकि इससे पहले भी कई नाच मंडलियां मिथिलांचल के सहरसा, सुपौल, पूर्णिया, अररिया आदि क्षेत्रों में 'बिदापत नाच' प्रस्तुत कर लोगों का मनोरंजन किया करती थी। रेणु ने अपने समय में इसे संरक्षण देने का प्रयास किया था। रेणु के पीछे पूरे मिथिलांचल में इस तरह की लगभग दो सौ नाच मंडलियां सक्रिय रही हैं।

हिंदी के प्रसिद्ध नाटककार जगदीशचंद्र माथुर ने भी अपनी पुस्तक 'परंपराशील नाट्य' में 'बिदापत नाच' जिसे वे मिथिलांचल की विशिष्ट नाट्य शैली भी मानते हैं- के बारे में लिखा है- "बिहार के पूर्णिया जिले में 'बिदापत नाच' नाम से एक आंचलिक नाटक की परंपरा है। इसमें मध्ययुगीन मिथिला के किर्तनियाँ नाटक तथा असम के अंकिया नाट दोनों की झलक दिखाई पड़ती है। मंडलियों में प्रायः किसान और मजदूर होते हैं- अधिकतर हरिजन वर्ग के। ... मंच और अभिनय परंपरा में असमिया अंकिया नाट का प्रभाव अधिक स्पष्ट है।... जिस स्थान पर पात्र अपनी सज्जा करते हैं, उसे यहाँ 'साज घर' कहा जाता है। इसकी तुलना असमिया-नाटक के 'छ्घर' या 'छद्मगृह' से की जा सकती है।"[12] इसमें मौजूद गीत-संगीत की प्रधानता का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं कि इसकी प्रस्तुति में एक तरफ उमापति उपाध्याय (1325) द्वारा लिखित किर्तनिया नाटक का प्रभाव दिखाई देता है तो दूसरी तरफ शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित अंकिया नाट्य शैली का प्रभाव भी दिखाई देता है। वहीं प्रोफ़ेसर बालगोबिंद झा व्यथित का मानना है इस नाट्य रूप पर रामलीला और रासलीला का भी प्रभाव दिखता है। दरअसल, "किर्तनिया शैली में वही लचीलापन है, जो रामलीला और

रासलीला लोकनाट्य शैली में है। रामलीला करने वाले लोग एक ओर पूरे रामचरित मानस को मंच पर उतारने की शक्ति रखते हैं, तो दूसरी ओर राधेश्याम कथावाचक की शैली में लिपिबद्ध रामकथा को मंचस्थ करने का सामर्थ्य भी रखते हैं।"[13]

'टूरिज्म पर्सपेक्टिव इन बिहार' पुस्तक की लेखिका निशा सिन्हा पुस्तक के 'बिहार के नृत्य' वाले अध्याय में बिहार में प्रचलित नृत्य की तीन श्रेणियां मानती हैं। उनके शब्दों में "बिहार में विविध प्रभाव वाली लोक नृत्य परंपरा की तीन अलग-अलग धाराएँ हैं। पहला विदेह में प्रचलित नृत्य, वर्तमान मिथिला, जो मुख्य रूप से गीतों या कवियों से प्रेरित है, दूसरा दक्षिण बिहार में प्रचलित, मुख्य रूप से आदिवासियों तक सीमित और किसी भी काव्य प्रेरणा की तुलना में प्रकृति और सामाजिक संस्थाओं से अधिक सम्बद्ध; और तीसरा, सरायकेला और दक्षिण बिहार के अन्य क्षेत्रों के छो नृत्य। ऐसा प्रतीत होता है कि बिहार में नृत्य और संगीत की कला में एक सतत परंपरा को संरक्षित बनाए रखा गया है।"[14] 'बिदापत नाच' इसी पहली धारा की कला है, जो इन दिनों अपने मूल रूप में सुरक्षा और संकट के दौर से गुजर रहा है। रेणु के साहित्य में लोक जीवन से विकसित ये नाट्यकलाएं काल के गाल में समाने से बची हुई हैं। विदापत नाच जैसी रचना के माध्यम से रेणु लोक नाट्य कलाओं के संरक्षण के सवाल को गहरा करते हुए दिखाई देते हैं।

संदर्भः

1. संपादक- भारत यायावर, रेणु रचनावली, पृष्ठ-27

2. श्याम सुन्दरदास ग्रंथावली, https://www.hindisamay.com/kabir-granthawa i/pada.htm

3. संपादक भारत यायावर, रेणु रचनावली, पृष्ठ-27

4. वही, पृष्ठ संख्या-23

5. रघुवीर सहाय, 'नेता क्षमा करें' कविता, कविता कोश, http:// kavitakosh.org

6. संपादक- भारत यायावर, रेणु रचनावली, पृष्ठ-1

7. वही, पृष्ठ संख्या-22

8. वही, पृष्ठ संख्या-24

9. वही,

10. संपादक-भारत यायावर, वही, पृष्ठ संख्या-25

11. संपादक-भारत यायावर, रेणु रचनावली, पृष्ठ-1

12. जगदीशचंद्र माथुर, परंपराशील नाट्य, पृष्ठ-88

13. प्रो. बालगोबिंद झा 'व्यथित', मैथिली साहित्यिक इतिहास, पृष्ठ- 48-491

14. निशा सिन्हा, टूरिज्म पर्सपेक्टिव इन बिहार, पृष्ठ-संख्या-39-40

-डॉ. अरविन्द कुमार मिश्र

सहायक आचार्य, हिंदी विभाग, आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली